

## भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन : अन्तर्विरोध के कुछेक आयाम

डॉ. बिरजू कुमार सिंह\*

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना और अगस्त 1947 में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बीच के लगभग साठ वर्षों का कालखण्ड हमारे देश के लंबे इतिहास में शायद सबसे बड़े परिवर्तन का समय है। 1885 का वर्ष वह समय था जब अंग्रेज इस गुमान में थे कि भारत में उनका राज चिरस्थायी है। आठ वर्ष पूर्व 1877 में देश में अकाल की विभीषिका के बीच एक शानदार दरबार लगा था जिसमें भारत के ब्रिटिश साम्राज्य का अंग होने की घोषणा की गई थी। पितृवत् कल्याणकारी राज्य की विचारधाराएं और साथ में कभी-कभी ट्रस्टीशिप की और स्वायत्त शासन के प्रशिक्षण की बातें पूर्णरूपेण श्वेत और निरंकुश राज्य की वास्तविकताओं पर शायद ही पर्दा डाल सकने में समर्थ रही हो। राजनीतिक निर्णय के कार्य पर और उच्च स्तरों पर प्रशासन के कार्य पर पूर्णरूपेण यूरोपियों का विशेषाधिकार था। 1880 के दशक में भारतीय सिविल सेवा के लगभग नौ सौ पदों में से सोलह को छोड़कर शेष सभी पर यूरोपीय विराजमान थे। 1861 में जब मुट्टी-भर 'नेटिवो' को प्रादेशिक एवं सुप्रीम काउंसिलों में नामजद किया गया तो इन काउंसिलों की शक्तियों को घटा भी दिया गया। यहां तक कि जिस स्थानीय स्वायत्त शासन को लार्ड रिपन ने बड़े धूमधाम से लागू किया था, वह भी वित्तीय विकेन्द्रीकरण का एक अनिवार्य कदम मात्र था। सैन्य-व्यवस्था जैसे महत्वपूर्ण मामलों में तो भारतीयों के हाथ में नाममात्र उत्तरदायित्व भी नहीं सौंपा जाता था। 1947 तक कोई भी भारतीय सेना में ब्रिगेडियर से अधिक नहीं हो सकता था।'

स्पष्ट है कि इतने बड़े देश का रोजमर्रा का संचालन भारतीयों के सहयोग के बिना संभव न था। अंग्रेजों का आत्मविश्वास इस बात से और दृढ़ होता था कि ऐसे पिछूे उन्हें सरलता से मिल जाते थे। 1857 के बाद राजाओं, जमींदारों एवं ग्रामीण और शहरी अभिजात वर्ग के साथ नए सिरे से अंग्रेजों के संबंध बने और सुदृढ़ हुए थे। भारत के 662 देसी राजा तो अंत तक ब्रिटिश सरकार की विश्वस्तम रक्षापवित्त बने रहे। यह सच है कि शिक्षित हिन्दुस्तानी बुद्धिजीवी वर्ग की एक ऐसी नस्ल, जो रंग में काली किन्तु विचारों और रुचियों में अंग्रेज होती, तैयार करने का

मैकाले का स्वप्न 1880 के दशक तक टूटने लगा था। फिर भी, मध्य वर्ग की उच्चाकांक्षाएं, जिनके फलस्वरूप कलकत्ता, बंबई, मद्रास और पूना में प्रांतीय समितियां बनीं और जिनकी चरम परिणति कांग्रेस की स्थापना में हुई, ब्रिटिश सरकार के लिए अधिक चिंता का विषय नहीं थी।

1888 में वायसराय ने घोषणा की कि कांग्रेस अत्यंत अल्पसंख्यक वर्ग की प्रतिनिधि से अधिक कुछ नहीं है। दरअसल 1880 के दशक में ऐसी धारणाएं एवं भविष्यवाणी बहुत गलत भी नहीं थीं। अखिल-भारतीय स्तर पर जनता के संबंध अभी तक समाज के अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त उच्च वर्गों एवं व्यावसायिक समूहों तक ही सीमित थे। शांत और गंभीर वार्षिक अधिवेशनों में की जानेवाली कांग्रेस की सौजन्यपूर्ण मांगों में अभी भी राजभक्ति का विशेष पुट रहता था, और इनमें अभी तक भारत के लाखों किसानों की आवाज सुनाई नहीं पड़ती थी। पूंजीवादी विकास का एक स्पष्ट, स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य विकसित हो जाने पर भी (जो हमारे राष्ट्रवाद में नरमपंथी बुद्धिजीवियों का सबसे बड़ा योगदान है), उभरता हुआ भारतीय बुर्जुवा वर्ग कांग्रेस की गतिविधियों में बहुत कम रुचि दिखला रहा था। एक ऐसे देश में जो उन्नीसवीं सदी तक विश्व के निर्धनतम देशों में एक बन चुका था, निम्न वर्गों के असंतोष का व्यापक बनना अपरिहार्य था और 1885 से लगभग दस वर्ष पहले पूर्वी बंगाल में जमींदारों की ज्यादतियों के खिलाफ सशक्त कृषक आंदोलन, दक्कन-महाराष्ट्र में साहूकार-विरोधी दंगे, और आंध्र प्रदेश के 'राम्पा' क्षेत्र में सशक्त आदिवासी विद्रोह हो चुके थे।<sup>2</sup>

किन्तु इन सभी आंदोलनों का आक्रामक रुख सामने मौजूद अत्याचारी की ओर अधिक और दूरस्थ ब्रिटिश आकाओं की ओर कम रहता था। मिसाल के तौर पर 1873 में पबना के किसानों ने यह नारा भी दिया कि वे केवल 'महरानी विक्टोरिया' की ही रैयत बनना चाहते थे। 'फूट डालो और राज करो' की नीति के लिए यहाँ पर्याप्त वस्तुगत आधार मौजूद थे। कारण कि सांप्रदायिक विभाजनों के साथ वर्गीय तनाव भी गुंथे हुए थे। जैसे पूर्वी बंगाल में मुसलमान किसान और हिन्दू जमींदार थे, मालाबार में मोपाला मुसलमान किसान और नंबूदरी अथवा नायर सवर्ण हिन्दू जमींदार थे, संयुक्त प्रांत के कुछ हिस्सों में मुसलमान ताल्लुकदार और हिन्दू काश्तकार थे, या पंजाब में हिन्दू साहूकार तथा व्यापारी और मुसलमान या सिख किसान थे।

फिर भी, राष्ट्रीय आंदोलन अंततः अपनी मूल अभिजात तथा बुद्धिजीवी वर्गीय सीमाओं को पार कर गया। 1936 तक कांग्रेस के अध्यक्ष यह उचित रूप से दावा कर सकते थे कि कांग्रेस अब आम जनता का सबसे बड़ा संगठन बन गई है और इसके सदस्य अधिकांशतः ग्रामीण क्षेत्रों के हैं जिनमें लाखों किसान और

\*बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

काश्तकार हैं और थोड़े-बहुत औद्योगिक एवं खेत मजदूर भी। कांग्रेस का आंदोलन भौगोलिक एवं सामाजिक, दोनों ही दृष्टियों से फैला और लहर-लहर आगे बढ़ा जिसके स्पष्ट उच्च बिन्दु 1905-1908, 1919-1922, 1928-1934, 1942 और 1945-1946 थे। उग्रवाद के चरण में इसका केन्द्र अगर बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब था तो गाँधीवादी चरण में यह हटकर गुजरात, बिहार, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत एवं आंध्र जैसे नए प्रदेशों में पहुंच गया। यह आंदोलन शहरी बुद्धिजीवियों से आरंभ होकर छोटे शहरों के निम्न-मध्य वर्गों, किसान के बड़े भागों एवं प्रभावशाली बुर्जवा समूहों तक पहुंचा। साथ ही आंदोलन के नए-नए रूप भी उभरे-स्वदेशी, बहिष्कार और सविनय अवज्ञा आंदोलन, गाँधीवादी सत्याग्रह और रचनात्मक ग्रामोत्थान कार्य; साथ ही वे तरीके जिन पर अनेक नेता नाक-भौं सिकोड़ते थे, किन्तु जो कभी-कभी बड़े महत्वपूर्ण हो जाते थे, जैसे क्रांतिकारी आतंकवाद, हड़तालें, नगरों, गांवों और आदिवासी क्षेत्रों में हिंसा का भड़क उठना। चौथे दशक तक देश के अनेक भागों में किसान सभाएं एवं ट्रेड यूनियन एक ताकत बनती जा रही थीं, और अनेक रजवाड़ों में भी जन-आंदोलन उभरने लगे थे।

किन्तु कुल मिलाकर स्थिति विरोधाभासपूर्ण थी, जिसमें निरंतरता के साथ ही परिवर्तन भी लक्षित होता था। कांग्रेस की लड़ाई राज के खिलाफ रही थी। किन्तु अब स्वयं कांग्रेस ही धीरे-धीरे राज बनती जा रही थी। बिना किसी बड़े परिवर्तन के ब्रिटिश राज की संपूर्ण नौकरशाही एवं सैन्य व्यवस्था, 'स्वर्गिक' सिविल सेवा और अन्य सबकुछ को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया था। सांप्रदायिक दंगे और देश का विभाजन राष्ट्रीय आंदोलन के आदर्शों की दृष्टि से सबसे बड़ी विफलताएं थे। कदाचित् इससे भी अधिक आधारभूत तथ्य यह था कि राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान जो आकांक्षाएं उभरी थीं वे अपूर्ण ही रहीं : किसानों को शक्तिशाली बनाकर रामराज्य स्थापित करने के बारे में गाँधीजी के स्वप्न भी उतने ही अपूर्ण रहे जितने कि सामाजिक क्रांति के वामपंथी आदर्श।<sup>3</sup>

उपरोक्त व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यदि हम बिहार में राष्ट्रवादी राजनीति प्रक्रिया पर नजर दौड़ाए तो हम पाते हैं कि बिहार में 1917 का चम्पारण सत्याग्रह पहला अवसर था जब बिहार के पारम्परिक किसान आधुनिक नेतृत्व में आंदोलन में शरीक हुए। गाँधी के नेतृत्व में इस आंदोलन को व्यापक समर्थन मिला, क्योंकि निलहों से समाज का हर तबका किसी-न-किसी कारण से असंतुष्ट था। खेतिहर मजदूर इसलिए असंतुष्ट था कि उन्हें वर्तमान दर से मजदूरी नहीं मिलती थी और उनसे बेगार लिया जाता था। 'तीनकठिया' व्यवस्था के चलते रैयतों में असंतोष था। महाजनों एवं व्यापारियों के असंतोष का कारण था कि नील की खेती को वे व्यापार के रूप में बढ़ाने के लिए स्वतंत्र नहीं थे। निलहे उनकी राह में रोड़ा

बनकर खड़े थे। निलहों ने धनी किसानों और महाजनों द्वारा रैयतों को सूद पर पैसा दिये जाने से रोका भी, ताकि वे उनकी जमीन लेने में कामयाब न हों। दूसरी तरफ निलहे रैयतों को अग्रिम भुगतान भी देते थे, वह भी बिना सूद के। इस तरह स्थानीय धनी किसानों और निलहों के बीच प्रतिस्पर्धा ने जन्म लिया।

चम्पारण संघर्ष के पहले के विश्लेषणों में जहाँ-तहाँ उठने वाले प्रतिरोधों को मूलतः राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम से जोड़कर ही विश्लेषण किया गया है। लेकिन, एक क्रांतिकारी रास्ते पर किसानों को आगे बढ़ाने में कांग्रेस और गाँधी की भूमिका को लेकर कई तरह के संदेह उजागर हो चुके हैं।

गौरतलब है कि चम्पारण सत्याग्रह आंदोलन में समाज के विभिन्न तबकों ने भागीदारी निभायी। लेकिन नेतृत्व मुख्य रूप से धनी किसानों, महाजनों, धनी रैयतों, वकीलों एवं शिक्षकों के हाथों में ही रहा। चम्पारण सत्याग्रह के एक प्रमुख नेता राजकुमार शुक्ला, जिन्होंने गाँधीजी को चम्पारण बुलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, स्वयं एक महाजन थे। लौकरिया के खेंदर राय, मोतिहारी के साहा और बेतिया के मारवाड़ियों जैसे आंदोलन के नेता और समर्थक महाजन, व्यापारी ही थे। अनेक ऐतिहासिक तथ्यों से यह साबित हो चुका है कि सत्याग्रह आंदोलन को गरीब और खेतिहर मजदूरों से कोई खास लेना देना नहीं था। अगर आंदोलन के नेतृत्व के वर्ग चरित्र का विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाता है कि यह एक मिथक ही है कि मध्यम किसान ऐसे कृषि आंदोलनों की अगुआई कर सकते हैं। वास्तव में चम्पारण सत्याग्रह स्थानीय धनी किसानों का आंदोलन था, जिसका उद्देश्य बाहरी निलहों को भगाना था और इसके लिए उन्होंने तब के राष्ट्रवादी उफान का इस्तेमाल किया।<sup>4</sup>

ध्यातव्य है कि दूसरी जगहों पर काम कर चुके गाँधी ने एक राष्ट्रीय नेता होने के नाते स्थानीय नेताओं की तुलना में सत्याग्रह को ज्यादा व्यापक में देखने का सुअवसर समझा। रैयतों का विश्वास स्थानीय राजनेताओं और आंदोलनकारियों से उठ गया और गाँधीजी की ओर से पेश सादगी से वे प्रभावित हुए। ऐसा निर्णय लेने में उन्होंने काफी सोच-विचार किया और उनके साथ जी-जान से जुट गए।

चूंकि इस अशांति के अगले मोर्चे में गाँधीजी को स्थानीय नेताओं ने पेश किया था, इसलिए कांग्रेस ने भी इन आंदोलन का श्रेय लिया। लेकिन, एक क्रांतिकारी रास्ते पर किसानों को आगे बढ़ाने में कांग्रेस व गाँधी की योग्यता और भूमिका को लेकर कई तरह के संदेह उजागर हो चुके हैं। यह नोट किया जा सकता है कि चंपारण सत्याग्रह के बाद इस तरह के किसी भी संघर्ष को कांग्रेस से प्रेरणा नहीं मिली। इसके साथ-साथ बिहार कांग्रेस के सुधार विरोधी, रूढ़िवाद रूख के असर, ग्रामीण विचारधारा की कमी की वजह से चम्पारण आंदोलन को एक मौलिक आंदोलन के रूप में विकसित नहीं किया जा सका।

असहयोग आंदोलन का आरंभ जनवरी 1921 में हुआ और शुरु में जोर मध्यवर्ग की भागीदारी पर किया गया, जैसे यह कि छात्र स्कूल-कॉलेज छोड़ दें और वकील अपना वकालत पेशा छोड़ दें। धीरे-धीरे विदेशी कपड़ों के बहिष्कार और सार्वजनिक दहन के साथ आंदोलन और भी उग्र बनता गया। कुलमिलाकर असहयोग आंदोलन के संबंध में आम राय यह थी कि यह सशक्त किन्तु कड़े ढंग से अनुशासित आंदोलन था। किन्तु साथ ही बिहार में ऐसी घटनाएं भी घटीं जो इस धारणा से मेल नहीं खाती थीं। जनवरी 1921 में मुजफरपुर, भागलपुर, मुंगेर और पूर्णिया में हाट लूटे जाने की 35 घटनाएं हुईं। (गाँधीजी के शिष्य होने का दावा करनेवाले कुछ लोग बलपूर्वक उचित कीमतें लागू करवाने का प्रयास भी कर रहे थे) 25 अप्रैल 1921 को एक खिलाफत स्वयंसेवक की गिरतारी के बाद गिरिडीह पर हमला हुआ जिसके परिणामस्वरूप गोलियां चलीं। कुछ आदिवासी क्षेत्रों में अवैध शराब की भरपूर खिंचाई जारी रही। चम्पारण और मुजफरपुर में जमींदारों और निलहों द्वारा आदिवासियों के पारंपरिक चरागाहों को हथिया लेने के कारण इन क्षेत्रों में व्यापक तनाव फैला। जनवरी 1921 में भागलपुर के सोनपरसा गांव के भूमिहारों ने एक यूरोपियन के गोरखा सेवकों पर हमला किया। नवम्बर 1921 में चम्पारण में मोतिहारी के निकट चराई के अधिकार को लेकर हुए विवाद के फलस्वरूप चौतरवा नील कारखाने को आग लगा दी गई, जबकि मुजफरपुर का सीतामढ़ी उपसंभाग तूफान के केन्द्र के रूप में विख्यात हुआ और वहां जनवरी 1922 में करों की नाअदायगी के संभावित आंदोलन को रोकने के लिए दंड देने के आदेश से लैस पुलिस बल को भेजा गया। किन्तु वैसा जमींदार-विरोधी किसान आंदोलन फिर नहीं हुआ जिसने 1920 में दरभंगा रियासत की नाक में दम कर दिया था और जिससे बिहार कांग्रेस के नेताओं ने अपने-आपको अलग कर लिया था।<sup>16</sup>

प्रसंगवश यहां यह जिक्र कर दे कि इस आंदोलन के दौरान अक्सर जनता ने अहिंसा के गाँधीवादी पंच की सीमाओं को तोड़ा। उच्चखल भीड़ की खुद गाँधी ने निंदा की, मगर उसे नियंत्रित करने में असफल रहे। अगर वे एक भरा-पूरा असहयोग आंदोलन या मालगुजारी न देने का अभियान शुरू करने से झिझकते रहे, तो इसका मुख्य कारण यही था। दरअसल असहयोग आंदोलन ने गाँधीवादी कांग्रेस के नेतृत्व में भारत में जन-आंदोलन की प्रकृति पर अनेक सवाल खड़े किए। जहाँ तक बिहार का सवाल है तो भिन्न-भिन्न जिलों में इस आंदोलन के अलग-अलग रूप रहे। आरंभ में आंदोलन शहरों तथा कस्बों तक सीमित रहा और वहाँ यह मुख्यतः मध्यवर्ग की भागीदारी पर निर्भर था, जो धीरे-धीरे कम हो गई। उत्तरी बिहार में कांग्रेस का आंदोलन उन्हीं क्षेत्रों में सबसे अधिक शक्तिशाली था, जहाँ पहले निलहे विरोधी आंदोलन और किसान सभा के कार्यकलाप चल चुके थे।

बिहार के वैसे क्षेत्रों में जहाँ किसानों की लामबंदी को कोई इतिहास नहीं था, देहातों की प्रतिक्रिया अपेक्षाकृत मद्धिम रही।<sup>16</sup>

असहयोग आंदोलन की वापसी के कुछ समय बाद तक कांग्रेस जन आंदोलन का एक और दौर शुरू करने की हालत में नहीं रही। खिलाफत आंदोलन के पतन के कारण कांग्रेस और मुस्लिम लीग का अल्पकालिक गठबंधन भी समाप्त हो गया। लेकिन संगठित राजनीतिक जीवन की ऐसी दरारों के बावजूद, दूसरी ओर, कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए, जिन्होंने अंग्रेजी राज के खिलाफ जन आंदोलन के एक और दौर-सविनय अवज्ञा आंदोलन- का आधार तैयार किया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान (1930-34) कांग्रेस के संदेश बिहार के आंतरिक इलाकों तथा समाज के निचले स्तर में भी पहुंचने लगे थे- पहले की तुलना में और अधिक तीव्रता के साथ। इस आंदोलन के दौरान कांग्रेस मेलों का उपयोग अपना संदेश फैलाने के लिए करती थी। सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रथम चरण (अप्रैल 1930 से मार्च 1931 तक) के दौरान बि.प्रा.कां.स. ने नमक सत्याग्रह, मदिरा व विदेशी कपड़ों के बहिष्कार, कुछ हद तक चौकीदारी कर का भुगतान ना करने के लिए आंदोलन आयोजित किए और पंचायतों की स्थापना की गई। जनगणना के काम में अड़चनें पैदा की गईं।

गौरतलब है कि उस प्रक्रिया में कांग्रेस के सामने चुनौतियाँ आने का सिलसिला शुरू हो गया। राजेन्द्र प्रसाद ने यह सलाह दी कि बि.प्रां.कां.स. चौकीदार कर भुगतान न के लिए आंदोलन चलाए। क्योंकि उस आंदोलन के लिए जनता का स्वाभाविक समर्थन हासिल होगा। लेकिन नमक सत्याग्रह के लिए वैसा समर्थन नहीं मिलेगा। नमक उत्पादन के लिए जमीन भी केवल कुछ ही जगहों पर उपलब्ध थी। उन्हें यह भी संदेह था कि क्या शिक्षित तबका नमक बनाने में कोई दिलचस्पी लेगा। नोनिया (नमक बनाने वाली जाति) लोगों के बारे में उनका भय उस आंदोलन के प्रति कांग्रेस के रवैए का सूचक था: "हम में से कुछ लोग सोचते हैं कि इन गरीब और पिछड़े लोगों को उकसाना और उन्हें सत्याग्रह में शामिल करना उचित नहीं है।"<sup>17</sup>

गाँधी का मानना था कि चौकीदारी कर का भुगतान न करने का आंदोलन असफल हो जाएगा। इसको तभी शुरू किया जा सकता है जब लोगों में इसके लिए 'जोश भर दिया जाए।' चूंकि राजेन्द्र प्रसाद भी पूरी तरह इस निर्णय से आश्वस्त नहीं थे, सो वे चुप रह गए।<sup>18</sup>

राजेन्द्र प्रसाद ने यह दावा किया कि सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान विदेशी कपड़ा व्यापारियों ने अपने गोदामों पर स्वेच्छा से ताले लगाए थे। और बहुत ही कम मामलों में पिकेट लगाये गए। लेकिन उनका यह दावा काफी गुमराह करने

वाला लगता है। यह कहना कि कांग्रेस के अभियानों को व्यापक जन समर्थन हासिल था, कांग्रेस द्वारा किए गए सांगठनिक प्रयासों की अनदेखी करना होगा जब कि इन्हीं प्रयासों की वजह से विदेशी कपड़ों की बिक्री कम हुई और खादी का प्रचार-प्रसार हुआ। ऐसा लगता है कि कपड़ा व्यापारियों और विभिन्न जिला कांग्रेस समितियों के बीच में जो तरह-तरह के कार्यकलाप हुए, उन पर पर्दा डाल दिया गया है। चुनौतियाँ तो वामपंथी धड़े, जैसे कि बिहार सोशलिस्ट पार्टी की तरफ से भी आ रही थी।

हाँ! यह सही है कि सविनय अवज्ञा आंदोलन 1920 के आंदोलन के मुकाबले निश्चित ही मूलगामीपन (रैडीकलिज्म) बढ़ा। पर साथ ही यह कोई दो टूक सफलता भी नहीं था। इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्पष्ट आभाव था, इसमें मजदूरों की कोई बड़ी भागीदारी नहीं रही और पढ़ा-लिखा तबका उस तरह शामिल नहीं हुआ जैसा पहले हुआ था।

#### सन्दर्भ सूची :

1. लो, डेविड ए. इंट्रोडक्शन टू साउथिंग्स इन मॉडर्न साउथ एशियन हिस्ट्री, निकोलसन, लंदन, 1968, पृ. 1
2. उपरोक्त, पृ.125
3. और ब्यौरों के लिए देखें वांधोपाध्याय, शेखर पलासी से विभाजन तक, ओरियंट लॉगमैन, हैदराबाद, 2007, पृ. 310-311.
4. उपरोक्त.
5. उपरोक्त, पृ. 313.
6. कुमार, रवींदर, एस्से इन द सोशल हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1983, पृ.26-31.
7. सरकार, सुमित, मार्डन इंडिया, मैकमिलन, नई दिल्ली, 1983, पृ. 174 में उद्धृत.
8. उपरोक्त.

## अंगसूत्रों में आचार व्यवस्था

डॉ. चुमचुम कुमारी\*

जैन वाङ्मय की धारा सदैव 'जीव' सापेक्ष ही प्रवाहित रही है। सात तत्त्व, पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य, नवपदार्थ सभी में जीव तत्त्व को ही प्राथमिकता दी गई है। जैन दर्शन की आधारशिला ही जीव तत्त्व है। बंधनयुक्त जीव ही संसार और बंधन मुक्त जीव ही सिद्ध है। जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व जैन दर्शन मान्य करता है।<sup>1</sup> इसमें भी प्राधान्य जीव तत्त्व का ही है। क्योंकि दृश्यमान अजीव तत्त्व जीव तत्त्व का ही कलेवर है, ऐसा स्पष्ट मन्तव्य है। यद्यपि इन दो तत्त्वों को प्रमुखता दी गई है, तदपि जीव-तत्त्व ही इस दर्शन का केन्द्र बिन्दु रहा है। जीव और अजीव तत्त्व की मिश्रावस्था ही, इस संसार का हेतु है। अजीव संलग्न जीव ही संसरण करता है, भ्रमण करता है।

वस्तुतः जीव तत्त्व है भी या नहीं? जीव है तो कैसा है? उसका स्वरूप क्या है? उसका लक्षण क्या है? इत्यादि अनेक प्रश्न दार्शनिक चिन्तन के विषय सदैव से रहे हैं। चिन्तक-धरा पर प्रस्फुटित होते रहे हैं। द्वादशाङ्गी के प्रथम अंग सूत्र 'आचार' में जीव-अस्तित्व, जीव सिद्धि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। जीव को आत्मा, चैतन्य आदि अभिधानों से भी उल्लिखित किया गया है। 'जीव-सिद्धि' इस तथ्य की प्रमाणिकता इससे 'अस्तित्वाद' के चार अंगों की स्वीकृति द्वारा होती है, आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद।<sup>2</sup> इसी तथ्य की पुष्टि 'सूत्रकृताङ्ग' के द्वितीय अंग सूत्र में भी है, लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया नहीं है ऐसी संज्ञा मत रखो, किन्तु ये सब है। ऐसा संज्ञा रखो।<sup>3</sup>

आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी किसे कहा जाए? जो आत्म स्वरूप को समझ लेता है वही सच्चा आत्मवादी है। जो आत्मवादी है वही सच्चा लोकवादी है। जो आत्मा और लोक के स्वरूप को जानता है वही कर्मवादी है और जो कर्मवादी है वही क्रिया करतने से क्रियावादी होता है।

आचाराङ्ग के इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा या जीव का अस्तित्व है या नहीं? जिसने आत्म स्वरूप को जाना है, वही लोक को भी जान पाता है। वही कर्म और क्रिया में भी पूर्ण निष्ठा के साथ तत्पर होता है। आत्मज्ञान मात्र यहाँ पर्याप्त नहीं है, तदनुसार लोक में कर्म और कर्मानुसारी क्रिया भी यहाँ

\*पकड़ी चौक, आरा

